

एक रिपोर्ट से बदली विकास की बहस

विश्वविद्यालय के छात्रों की वह रपट एक गुमनाम दस्तावेज ही रहती, अगर मेधा पाटकर ने इसे पढ़कर नर्मदा बचाओ आंदोलन न शुरू किया होता।

तीस साल पहले दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने नर्मदा घाटी की पैदल लंबी यात्रा की थी। इस कठिन यात्रा को मजे के लिए नहीं किया गया था। ये छात्र नर्मदा घाटी में विशाल पनबिजली और सिंचाई योजनाओं के पर्यावरण पर संभावित असर को जानने और नर्मदा नदी की मौजूदा प्राकृतिक व सांस्कृतिक धरोहर को दर्ज करने के लिए गए थे। उन्होंने इस यात्रा पर एक रिपोर्ट लिखी, जो लंदन के द इकोलॉजिस्ट और मुंबई की इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली (ईपीडब्ल्यू) में छपी थी। तथ्यों से भरी और अत्यंत संयमित भाषा में लिखी हुई इस रिपोर्ट का ऐतिहासिक महत्व है। इसे पढ़कर मुंबई की एक सामाजिक कार्यकर्ता मेधा पाटकर नर्मदा घाटी पहुंचीं और वहां उन्होंने अपना काम शुरू किया।

सरकार ने एक महत्वाकांक्षी मास्टर प्लान बनाया था, जिसके तहत नर्मदा घाटी में 30 बड़े और करीब 135 मध्यम आकार के बांध बनाए जाने थे। शोधकर्ताओं ने एक बुनियादी सवाल पूछा कि क्या सरकार ने इन परियोजनाओं के पर्यावरण संबंधी और सामाजिक परिणामों के बारे में गंभीरता से अध्ययन किया है? इसका जवाब उन्हें 'नहीं' में मिला। उस घाटी में कई तरह के जैव-

विविधता से भरे जंगल थे। इस बात का कोई अध्ययन नहीं किया गया था कि इन बांधों से कितने जंगल और जंगली जानवर नष्ट हो जाएंगे या जंगल पर निर्भर ग्रामीणों की आजीविका का क्या होगा। भूकंप के नजरिये से संवेदनशील इस इलाके में इतने सारे बांध बनाने का भौगोलिक असर भी किसी को पता नहीं था।

इस वैज्ञानिक अनदेखी के साथ एक सामाजिक उपेक्षा भी जुड़ी थी। इस घाटी में कई किसान, आदिवासी और कारीगर समूह रहते थे। उन लोगों की जीवनशैली और सामाजिक संरचना की भी जांच नहीं की गई थी। जो मंदिर और अन्य पवित्र स्थल डूब में आ जाते, उनका भी कोई लेखा-जोखा नहीं था। छात्रों ने पाया कि इन परियोजनाओं को बनाते हुए किसी भी स्तर पर स्थानीय लोगों की कोई राय नहीं ली गई थी। बांधों से जो जलाशय बनने वाले थे, वे दस लाख से भी ज्यादा लोगों को पूरी तरह उजाड़ देते। इसके बावजूद इन विस्थापितों की जरूरतों का कोई लेखा-जोखा नहीं था। कई मामलों में वैकल्पिक जमीन का इंतजाम नहीं था और जो मुआवजा दिया जाना था, वह भी बाजार की दरों से बहुत कम था। दूसरी ओर, परियोजना की लागत कई मामलों में 30 प्रतिशत से भी कम आंकी गई थी।

परियोजना के अधिकारियों ने पर्यावरण के नुकसान को भी नजर अंदाज कर दिया था। नर्मदा घाटी में प्राकृतिक जंगल, जमीन को उपजाऊ बनाए रखने और पानी का संचय करने का काम करते थे। ऐसी परियोजनाओं से जमीन की क्षारीयता और उसके दलदली हो जाने की आशंका देखने में आई थी। फिर इन परियोजनाओं में जो नहरें प्रस्तावित थीं, उनमें इन बातों का बिल्कुल खयाल नहीं रखा गया था। इन छात्रों ने देखा कि ये परियोजनाएं पर्यावरण के प्रति एक व्यापक उपेक्षा की प्रतीक हैं। उनकी नजर

रामचन्द्र गुहा
प्रसिद्ध इतिहासकार



में भारत ने आर्थिक विकास का जो मॉडल चुना है, वह पर्यावरण की दृष्टि से टिकाऊ नहीं है और सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से विध्वंसक है।

आधुनिक भारत के इतिहास में दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों की यह रपट एक गुमनाम, लेकिन महत्वपूर्ण दस्तावेज ही रहती, अगर मेधा पाटकर ने इसे पढ़कर नर्मदा बचाओ आंदोलन शुरू न किया होता। वह आंदोलन एक महत्वपूर्ण अहिंसक सामाजिक आंदोलन था, जिसमें नर्मदा घाटी के तमाम ग्रामीण शामिल थे और शहरों, कस्बों में इसके समर्थक बड़ी तादाद में थे। इस आंदोलन ने अनियंत्रित आर्थिक विकास के सामाजिक और पर्यावरण संबंधी नतीजों पर लोगों का ध्यान खींचा। इसने खासतौर पर बांधों से विस्थापित होने वाले लोगों की तकलीफों को उजागर किया, जो अपना घर, अपने गांव, अपने खेत और पूजा स्थल इसलिए छोड़ने पर मजबूर थे कि दूसरे लोग उनके त्याग का फायदा उठा सकें। नर्मदा बचाओ आंदोलन ने एक बड़े बांध सरदार सरोवर पर विशेष ध्यान दिया। इस परियोजना की विशेषता यह थी कि इसके फायदे सिर्फ एक राज्य यानी गुजरात को मिलने थे, जबकि इसकी कोमत दूसरे सूबे यानी मध्य प्रदेश को चुकानी थी। सरदार सरोवर बांध से विस्थापित होने वाले लोगों में बड़ी तादाद आदिवासियों की थी। मेधा पाटकर व उनके साथियों ने इन लोगों को संगठित किया और बौद्धिक वर्ग के एक बड़े हिस्से की भी सहानुभूति अर्जित की। उनका उद्देश्य इस नारे में व्यक्त होता है- 'बांध नहीं बनेगा, कोई नहीं हटेगा'।

मैं मेधा पाटकर के साहस और प्रखरता का जबरदस्त प्रशंसक हूँ और मैं उनके सहयोगियों के समर्पण को भी

सराहता हूँ, लेकिन मुझे उनकी रणनीति को लेकर कुछ शंकाएं थीं। मैं मानता हूँ कि उन्होंने अमेरिकी कांग्रेस में इस मुद्दे को ले जाकर उसका जो अंतरराष्ट्रीयकरण किया, वह ठीक नहीं था। जब इस मामले पर सुप्रीम कोर्ट में बहस चल रही थी, तब आंदोलन को किसी समझौते के लिए कोशिश करनी चाहिए थी। उस बांध का काफी बड़ा हिस्सा बन चुका था और उसमें हजारों करोड़ रुपये का सार्वजनिक धन खर्च हो चुका था। इसे ध्यान में रखते हुए पुणे के कुछ इंजीनियरों ने एक नया तरीका सुझाया था। जिसके मुताबिक बांध को उसकी पूरी ऊंचाई तक नहीं ले जाना था, इससे विस्थापन बहुत कम हो जाता और कुछ विशेष ओवर फ्लो नहरों के जरिये पानी कच्छ और सौराष्ट्र के अकाल पीड़ित क्षेत्रों में सीधे पहुंच जाता। अगर इस बीच के रास्ते को सुप्रीम कोर्ट के सामने जोर देकर रखा जाता, तो शायद न्यायाधीश इसे स्वीकार कर लेते। उनके सामने दो ही विकल्प रहे गए थे कि या तो बांध पूरी ऊंचाई तक बनाया जाए या इसे पूरी तरह खत्म कर दिया जाए, इसलिए उन्होंने बांध के पक्ष में फैसला लिया।

सुप्रीम कोर्ट का फैसला आए हुए एक दशक से ज्यादा हो गया। इस बीच नर्मदा का पानी मध्य गुजरात में तो पहुंच गया है, लेकिन कच्छ व सौराष्ट्र में नहीं पहुंचा है। मध्य प्रदेश में विस्थापितों का पुनर्वास ठीक से नहीं हुआ है। जंगलों के कटने से जो पर्यावरण का नुकसान हुआ है, वह लगातार बढ़ता ही जा रहा है। नर्मदा बचाओ आंदोलन सरदार सरोवर की अपनी लड़ाई हार गया है, लेकिन उस लड़ाई ने जनमानस पर गहरा असर छोड़ा है। उनके प्रयासों की वजह से अब बांधों, कारखानों और राजमार्गों के कारण विस्थापित होने वाले लोगों की उतनी उपेक्षा नहीं होती। पहले उजड़ने वाले लोगों को बहुत कम मुआवजा दे दिया जाता था, अब उन्हें न्यायपूर्ण मुआवजा देने के लिए राष्ट्रव्यापी समर्थन है।

यह सब दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों को उस मूल रिपोर्ट की वजह से संभव हो पाया। 1983 में जिन छात्रों ने वह यात्रा की थी, उनमें से कई 'कल्पवृक्ष' नामक संस्था के सदस्य थे, जिसकी स्थापना 1979 में हुई थी और जो अब भी सक्रिय है। दिल्ली और पुणे में इसके दफ्तर हैं और यह संस्था पर्यावरण, शहरी जीवन, सामाजिक संवर्द्धन जैसे मुद्दों पर महत्वपूर्ण काम कर रही है। दिल्ली और अरावली में इस संस्था ने अच्छा काम किया था, लेकिन 1984 की नर्मदा रिपोर्ट ने उसे राष्ट्रीय ख्याति प्रदान की। तब से अब तक कल्पवृक्ष की भारत के विकास की बहस में बहुत महत्वपूर्ण और मौलिक आवाज रही है।

(ये लेखक के अपने विचार हैं)



डी. श्रीनिवास